‘फार ए प्रोलेतारियन पार्टी’ के सम्पादक मण्डल के कृषि प्रश्न के बारे में प्रस्ताव पर हमारा पत्र

प्रति,

सम्पादक मंडल

‘फार ए प्रोलेतारियन पार्टी’

कामरेडो,

हमने ‘कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों की कृषि प्रश्न के बारे में अवस्थितियों पर’ आपके प्रस्ताव को रूचिपूर्वक पढ़ा ।

हम इस मौके पर उपरोक्त प्रस्ताव के बारे में टिप्पणी करना चाहते हैं । इस प्रयास के पीछे हमारा उद्देश्य कृषि प्रश्न की पड़ताल करना है ताकि हम इस प्रश्न की ज्यादा गहरी समझदारी तक पहुंच सकें, साथ ही इसे बेहतर तरीके से सूत्रवद्ध करने में समर्थ हों ।

आपके प्रस्ताव में कुछ बातें ऐसी हैं जो स्वागत योग्य हैं, और कुछ अन्य हैं जिन्हें ज्यादा गहराई से समझना तथा आगे विकसित करना जरूरी है । प्रस्ताव के कुछ सकारात्मक लक्षण हैं और कुछ नकारात्मक । हम दोनों पर टिप्पणी करेंगे । फिर भी हम ज्यादा समय नकारात्मक लक्षणों को बताने में लगायेंगे, क्योंकि सकारात्मक लक्षण हमारे हैं, ये नकारात्मक लक्षण ही हैं जिन्हें निकाल बाहर करना आवश्यक है । हमें उम्मीद है कि आप इस भावना की कद्र करेंगे ।

प्रस्ताव का प्रस्थान बिन्दु और जोर ठीक दिशा में है। लेकिन जो चीज नदारद है वह है ठोस परिस्थिति की मात्रा निर्धारण का प्रयास । चूंकि प्रस्ताव ठोस परिस्थिति का मात्रा निर्धारण और विश्लेषण नहीं कर पाया है, अतः आवश्यक निष्कर्ष निकालने से पहले ही रूक जाता है। दूसरे शब्दों में, यह इस सही सैद्धान्तिक आमुख से शुरू होता है,

#‘‘पूंजीवाद पुराने रूपों में से, पुरानी सामंती सम्पत्ति से, कृषि कम्यून सम्पत्ति से गोत्र सम्पत्ति इत्यादि से अपने लिऐ कृषि सम्बन्धों के आवश्यक रूप तैयार कर लेता है । (अनुच्छेद,4)

‘‘यह मानना गलत होगा कि साम्राज्यवाद के तहत (साम्राज्यवादी युग में) पहले (सुधारवादी) रास्ते से विजय सैद्धान्तिक तौर पर असम्भव है - क्योंकि इसके लिए कोई तर्कसंगत कारण नहीं बताए जा सकते (अनुच्छेद,10)

लेकिन चूंकि इसमें 21वीं सदी की भारतीय कृषि का ठोस विश्लेषण नहीं किया गया है, इसलिए यह इस बात पर स्पष्ट निर्णय देने में अक्षम है कि भारतीय कृषि मूलतः अर्द्ध-सामन्ती है अथवा भारतीय कृषि मूलतः पूंजीवादी हो चुकी है । चूंकि प्रस्ताव इस बुनियादी सवाल से किनाराकशी करता है, इसलिए अच्छी शुरूआत के बावजूद इसके पास इस पुरानी अवस्थिति को दुहराने के अलावा कोई चारा नहीं रह जाता है कि ‘‘वर्तमान में भारत समाजवादी क्रांति की मंजिल में होने

के बजाय, इसके पहले वाली जनवादी क्रांति की मंजिल में है ।'' आपको भारतीय वास्तविकता का विस्तृत ठोस विश्लेषण करने से नहीं बचना चाहिये था ।

आपको इस आवश्यक कार्यभार में लगने के लिए प्रेरित करने के प्रयास में हम आपके सामने सुस्पष्ट तथ्य रखेंगे तथा कुछ सवाल खड़े करेंगे ।

* प्रस्ताव के अनुच्छेद - 3 में आप सही चिह्नित करते हैं कि बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में भारतीय कृषि गतिरूद्ध, वृद्धिविहीन थी । और कि उत्तरार्द्ध में पूंजीवाद का नियमित व सतत् विकास हुआ है ।

यहां जिस चीज की जांच करना और जवाब देना आश्यक है, वह है कि विकास की यह गति अर्द्ध-सामन्ती ढांचे में अवरूद्ध पूंजीवाद के अनुरूप है या अर्द्ध-सामन्ती ढांचे को मूलतः तोड़ चुके पूंजीवाद के अनुरूप है? हम यहां यह इंगित करना चाहते हैं कि पिछली अर्द्ध-शताब्दी के दौरान कृषि उत्पादन चार गुना बढ़ा है । उत्पादन में ऐसी बढ़ोत्तरी संभव नहीं होती, यदि अर्द्ध-सामन्ती ढांचा कमोवेश बरकरार बना रहता । बिना किसी आंकड़े के आप यह गलत बात कहते है कि वृद्धि की गति ''बहुत धीमी'' रही है । सुधारों के रास्ते रिस कर आने वाले पूंजीवाद के लिए यह रफ्तार कतई धीमी नहीं है । इससे ज्यादा रफ्तार तभी संभव थी जब यह रास्ता क्रांतिकारी होता ।

* इसी अनुच्छेद -3 में, आप बीसवीं शताब्दी के प्रथम अर्द्धांश में किसानों के बीच 'बहुत निम्न स्तर' के संस्तरीकरण (या वर्ग विभेदीकरण) को चिह्नित करते हैं यद्यपि आप द्वितीय अर्द्धांश के लिऐ संस्तरीकरण के स्तर पर स्पष्ट टिप्पणी नहीं करते, लेकिन उसमें यह अंतर्निहित है (अनुच्छेद -11व 12 में परोक्ष रूप से कहा भी गया है) कि यह बढ़ा है । यदि आपने इसे मापा होता तो आप भी संभवतः उतने ही चकित होते जितने हम हुए थे । आज कृषि कार्य में संलग्न लगभग 45% से अधिक लोग किसान नहीं रह गये हैं, वे खेतीहर सर्वहारा हैं(और यह सब ध्रुवीकरण रोकने की सरकारी योजना के बावजूद है) । दूसरी तरफ, जैसा कि आपने सही चिह्नित किया है कि पूंजीवादी कुलकों की एक लॉबी अस्तित्व में आ चुकी है (अनुच्छेद 12) । और आप यहां तक पाते है कि कई मौकों पर यह लॉबी कुल सांसदों का 35% भेजती है । कामरेडो, ऐसे में इस ज्वलंत प्रश्न का जवाब देना जरूरी हो जाता है कि क्या अर्द्ध-सामन्तवाद के बुनियादी ढांचे को छिन्न-भिन्न हुए बगैर इस पैमाने का विभेदीकरण सम्भव है ? (हम लोग सामंती अवशेषों की मौजूदगी पर प्रश्न चिह्न नहीं लगा रहे हैं ।)

*एक गौण सवाल जिसे उठाना आवश्यक है कि जब हम अपना दावा करने वाली और अपने हितों को बढ़ाने वाली एक ताकतवर पूंजीवादी-भूस्वामी/कुलक लॉबी की उपस्थिति देखते हैं तो अपने आप को दावे से अभिव्यक्त करती हुई कोई शक्तिशाली सामंती-जमींदार/सूदखोर लॉबी को क्यों नहीं देख पा रहे हैं? वास्तव में, अगर यह लॉबी मौजूद होती तो कुलकों के ढेर सारे दावे इस लॉबी के वर्ग हितों के खिलाफ होते । हमें इस तरह की कोई राष्ट्रीय परिघटना नहीं दिखाई पड़ती (न ही कोई क्षेत्रीय परिघटना) । ऐसा क्यों है? क्या इसलिये ऐसा नहीं है कि सामंती भू-स्वामी अब राज्य सत्ता में कोई भागीदारी नहीं करते क्योंकि या तो उनका पूंजीवादी भू-स्वामियों में रूपान्तरण हो गया है या वे हासिये में धकेल दिये गये हैं, अर्थात अर्द्ध-सामन्ती ढांचा नष्ट हो चुका है ।

*आप उच्च पैदावार के बीज,रासायनिक खादों,कीटनाशकों, खरपतवारनाशकों, देहाती विद्युतीकरण के प्रयोग, आधुनिक बेंकिंग, बाजारों, संचार आदि के विकास को संज्ञान में निश्चित ही लेते हैं। इनके **उपयोग के परिणाम** की जांच करना बहुत दिलचस्प और आंखें खोलने वाला होगा, क्योंकि ये चीजें किसान को पूंजीवादी राष्ट्रीय बाजार से जोड़ देती है यानी कि सामंती एकान्तिकता से उसे बाहर निकालती है और उन्हें शोषक पूंजीपति के हाथों सौंप देती है । एक महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि शताब्दी के अन्त में उच्च पैदावार के बीज देश की 3/4 कृषिगत भूमि पर बोये जाते थे । आंखें खोलने वाला एक अन्य तथ्य देहातों में बैंकों के नेटवर्क के विकास और पैठ का है । आज भारतीय पूंजीपतियों ने 12,000 से भी कम लोगों पर एक बैंक शाखा खोल रखी है,जबकि 1960 के दशक में 88,000 भारतीयों पर एक बैंक शाखा हुआ करती थी । ऐसे कई अन्य आंख खोलने वाले तथ्य हैं, लेकिन जिस बात को हम रेखांकित करने की कोशिश कर रहे हैं, वह यह है कि ज्यों ही आप ठोस शब्दों में पूंजीवादी विकास को मापने की कोशिश करेंगे, आप इस अवश्यम्भावी निष्कर्ष से नहीं बच पायेंगे कि भारतीय कृषि में शोषण का मुख्य तरीका पूंजीवादी है न कि अर्द्ध-सामन्ती ।

इसी तरह, कृषि में उत्पादन पक्ष का विश्लेषण(समीकरण में आगत पक्ष के विपरीत) उतना ही आंख खोलने वाला है। कृषि उत्पादों का भारी हिस्सा बुर्जुआ बाजार में पहुंचते हुए पाया
जाता है ।

*यदि अर्द्ध-सामन्तवाद का बुनियादी ढांचा मूलतः बरकरार रहता तो भू-लगान कृषि से निचोड़े गये अधिशेष का महत्वपूर्ण हिस्सा होता । आज हम पाते हैं कि कृषि भूमि का 9/10 तथा प्रचालित भू-जोतों का 7/8 भाग पर कृषि कार्य खुद भू-स्वामियों द्वारा किया जाता है । हम किसी भी प्रकार के किराये की जमीन का 1/10 कुल जोते गये क्षेत्रफल तथा 1/8 प्रचालित जोतों में ही पाते हैं। कृषि क्षेत्र के ये ही भू-खण्ड हैं जो कि भू-स्वामी को भू-लगान दिलाते हैं । जहां तक राज्य द्वारा वसूले गये भू-राजस्व का सम्बन्ध है, यह इतना कम है कि इसे नजरअंदाज किया जा सकता है(केन्द्र सरकार भू-राजस्व नहीं वसूलती है, और राज्य स्तर पर यह कुल राजस्व का केवल 0.6% है) । ऊपर वर्णित किराया भूमि का लगान 1/3 हिस्सा **विपरीत-किराया** (reverse tenanacy) का है, यानि बड़ा और समृद्ध, गरीब और छोटे किसान की जमीन जोतते हैं, और विपरीत दिशा में लगान देते हैं । इस प्रकार यदि सामंती भू-लगान जैसी कोई चीज है भी तो वह भारतीय कृषि के और भी छोटे हिस्से तक सीमित है ।ये चुभने वाले तथ्य इस अवश्यंभावी निष्कर्ष के लिये बाध्य कर देते हैं कि ''जमीन जोतने वाले की'', आज किसान संघर्षों का केन्द्रीय नारा नहीं रह गया है । यानि कि ग्रामीण क्षेत्रों में जनवादी क्रांति का यह नारा नारा अप्रासंगिक हो चुका है । अपरिहार्य निष्कर्ष यह है कि भारत इस समय अर्द्ध-सामन्ती कृषि से पूंजीवादी कृषि में संक्रमण से नहीं गुजर रहा है । यह संक्रमण मुख्यतः पूरा हो चुका है । अब सिर्फ पटाक्षेप ही बचा है । और क्रांतियों की रणनीतियां अवशेषों के आधार पर तय नहीं की जाती । इसके लिऐ सम्पूर्ण शरीर को ध्यान में रखना होता है न कि महज पूंछ को ।

*एक अन्य दिलचस्प सवाल जिसकी जांच की जानी चहिये थी, वह भारतीय कृषि में **पूंजी निर्माण** का मुद्दा है । यह महत्वपूर्ण है क्योंकि अर्द्ध-सामन्तवाद के दावों में एक तर्क यह भी है कि भारतीय कृषि में महज साधारण पुनरूत्पादन हो रहा है । हम यह तर्क देना चाहते हैं कि यदि साधारण पुनउर्त्पादन होता भी है तो यह इसे प्राक्-पूंजीवाद का मामला आवश्यक तौर पर नहीं बना देता है । हमारा दृढ़ कथन है कि भारतीय कृषि में पूंजी निर्माण खुद कृषि क्षेत्र के भीतर से

ही हो रहा है, यानी कि विस्तारित पैमाने का पुनरूत्पादन जीवन की सच्चाई है । इसमें कोई संदेह नहीं कि भारतीय कृषि में पूंजी निर्माण उद्योगों में पूंजी निर्माण से पीछे है, कि यह अन्तर काफी ज्यादा है, लेकिन यह किसी भी प्रकार की पूंजीवादी अर्थव्यवस्था में - चाहे वह विकसित हो या चाहे पिछड़ी हुई - होता है । यदि आप भारतीय कृषि में पूंजी निर्माण की परिघटना की जांच करेंगे तो पायेंगे कि यह देश के कुल पूंजी निर्माण का लगभग 6% है । यदि आप और गहराई में जायेंगे तो यह पाकर आश्चर्यचकित होंगे कि इसमें 3/4 हिस्सा निजी क्षेत्र का, यानि कि प्रत्यक्षतः किसानों या फार्मरों का योगदान है ।

यद्यपि सकल घरेलू उत्पाद में कृषि का हिस्सा लगभग 1/4 है, फिर भी पूंजी निर्माण का यह निम्न स्तर (कुल का 6%) केवल यह बताता है कि भारतीय कृषि का गैर कृषि क्षेत्र द्वारा शोषण होता है ।

कृषि में पूंजी निर्माण के तथ्य को दिखाकर हम यह रेखांकित करना चाहते हैं कि यह ऐसी परिस्थिति नहीं है जब पूंजीवाद कृषि में शुरूआती कदम रख रहा होता है, बल्कि यह वैसी है जब पूंजीवाद अच्छा-खासा जड़ जमा चुका है कि पूंजी अपने आप को विस्तारित पैमाने पर पुनरूत्पादित कर रही है । हम सोचते हैं कि यदि आप कुछ गांव चुनें और एक नमूना सर्वेक्षण लेना शुरू करें तो आप पश्चिम बंगाल में ही, यहां तक कि पश्चिम बंगाल के पिछड़े हिस्सों में भी विस्तारित पैमाने का पूंजीवादी पुनरूत्पादन पायेंगे । हमारा दावा है कि यह एक राष्ट्रीय परिघटना है ।

*इस प्रस्ताव में भारतीय कृषि का साम्राज्यवाद के साथ रिश्ते को लिया गया है । लेकिन हम आश्चर्यचकित हैं कि इसमें साम्राज्यवाद के **सामाजिक आधार** के मुद्दे को नहीं उठाया गया । इसे लिया जाना चाहिये था । 21वीं सदी में साम्राज्यवाद के सामाजिक आधार को सटीक चिह्नित करने का प्रयास अत्यन्त जानकारी बढ़ाने वाली कसरत होती । यह कोई उम्मीद करे कि पारंपरिक किस्म के नवाब और जागीरदार/जमींदार सुधारों के दौर में (1991 के बाद) साम्राज्यवाद का स्वागत किये होंगे लेकिन ऐसा मामला नहीं है । ग्रामीण क्षेत्रों में पूंजीवादी भू-स्वामी व कुलकों से बना हुआ एक नया वर्ग साम्राज्यवाद का सबसे बड़ा समर्थक बन कर उभरता हुआ पाया जा रहा है । उनकी उपभोक्तावादी आदतें और सामाजिक हैसियत उन्हें 1991 के बाद देहातों में घुसपैठ कर रहे साम्राज्यवाद के ब्रांड का सबसे बड़ा चहेता बनाती हैं । पुराने समय के सामंती जमींदार या तो विलुप्त हो चुके हैं या इतने जर्जर हो चुके है कि भू-लगान वसूलने वाले 'ब्रिटिश राज' से काफी भिन्न 21वीं सदी के साम्राज्यवाद के साथ वे तालमेल नहीं बिठा सकते । एक समाज वैज्ञानिक होने के नाते इतने गहरे परिवर्तनों पर हम आंख नहीं मूंद सकते । हमें जीवन के नये तथ्यों को, जैसे वे कहें वैसे ही स्वीकार करना चाहिये और परिणामस्वरूप अपने सिद्धान्तों में तद्नुसार परिवर्तित करना चाहिये। हमें अपने सिद्धान्तों को बरकरार रखने के लिये महत्वपूर्ण तथ्यों को नजरअंदाज नहीं करना चाहिये । हमें अपने आपसे सबसे अधिक परेशान करने वाले इस सवाल को पूछने के लिये तैयार रहना चाहिये, ''यदि साम्राज्यवाद का सामाजिक आधार बदल गया है, तब भी साम्राज्यवाद-विरोधी क्रांति सामंतवाद- विरोधी क्यों होगी; पूंजीवाद-विरोधी (कुलक-विरोधी, पूंजीवादी भू-स्वामी विरोधी) क्यों नहीं होगी ?''

*प्रस्ताव के अनुच्छेद - 7 में आप बुर्जुआ-जनवादी क्रांति के परिणाम के मुद्दे को उठाते है । सुधारवादी रास्ते की बात करते हुए आप कहते हैं,

"...पुराना वैधानिक-राजनीतिक ढांचा मूलतः बरकरार रहता है और बहुत धीमी बुर्जुआ सुधारों की प्रक्रिया से गुजरता हुआ अंततः बुर्जुआ शासन के अनुकूल बन जाता है, दमन के पुराने हथियार जहां तक संभव हो, बने रहते हैं लम्बे समय तक पुराने रीति-रिवाज, पूर्वाग्रह, संस्थायें, विचार जिंदा रहते हैं..." ।

हम जानते है कि यह लेनिन की पुनरूक्ति है । हम इस पर बहस नहीं कर रहे हैं । हम इस प्रश्न को ठोस रूप में प्रस्तुत करते हैं, जैसा कि किसी भी लेनिनवादी को करना चाहिये, कि क्या 21वीं सदी की वर्तमान **भारतीय राजसत्ता** बुर्जुआ शासन के अनुकूल है? हमारा जवाब 'हां' में है । चूंकि आपका जवाब नहीं में है, हम चाहेंगे कि आप हमें **विस्तार से वे ठोस बुनियादी परिवर्तन** बतायें जो वैधानिक-राजनीतिक ढांचे में होने पर यह पूंजीवाद के अनुकूल हो जायेगी । प्रश्न को आपके पाले में छोड़ देने से पहले हम कहना चाहेंगे कि जनवादी-वैधानिक-राजनीतिक ढांचा पूंजीवाद के अनुकूल कई रूपों में से सिर्फ एक रूप है, हालांकि यह सबसे अधिक अनुकूल रूप है । अर्द्ध-जनवादी ढांचा और यहां तक कि सर्वसत्तावादी या फासिस्ट वैधानिक-राजनीतिक ढांचा भी पूंजीवाद के अनुकूल होता है । किसी भी वैधानिक-राजनीतिक ढांचे का पूंजीवाद के अनुकूल होने के लिये सिर्फ यह जरूरी है कि रूप की अंतर्वस्तु बुर्जुआ तानाशाही हो । दूसरे शब्दों में, वास्तविक प्रश्न यह है कि क्या वैधानिक-राजनीतिक ढांचा इस रूप में है कि बुर्जुआ अपनी तानाशाही मजदूरों, किसानों और अन्य मेहनतकश अवाम पर थोप सके या वह इस रूप में आने की प्रक्रिया में है ? अगर आप जोर देते है कि वह इस रूप में आने की प्रक्रिया में है तो फिर हम यह जानना चाहेंगे कि और क्या होना चाहिये कि वह बुर्जुआ की पूर्ण तानाशाही हो जाय ?

*अनुच्छेद -14 में आप कहते हैं,

"विकास के जुंकर रास्ते को अपनाने के बावजूद भारतीय कृषि में, खास तौर पर कृषि सम्बन्धों और भू-मालिकाने के मामलों में **सामंतवाद के अवशेष** अभी भी काफी मात्रा में मौजूद है, और भारतीय कृषि पूंजीवादी जनवादी कृषि व्यवस्था से काफी दूर है ।"(शब्दों पर जोर हमारा)

हम 'सामंतवाद के अवशेष' शब्दावली का स्वागत करते हैं । यदि आप सामंती अवशेष को परिभाषित करने का प्रयास करते तो यह मददगार होता । जहां तक हमारा मानना है, पूंजीवादी भारतीय कृषि के अन्तर्गत भारतीय कृषि में प्राक्-पूंजीवादी सामंती अवशेष मौजूद हैं । वे मूलाधार और अधिरचना दोनों में मौजूद हैं । मूलाधार में उसकी मुख्य अभिव्यक्ति परम्परागत बंटाईदारी है (किरायेदारी की 1/3 भूमि पर यानी कि कुल भूमि के 3% पर),मजदूरी को कम रखने में जातिवादी परम्पराओं की भूमिका, जजमानी प्रथा के अवशेष, बंधुआ मजदूरी, कुछ हद तक परंपरागत सूदखोरी, कृषिकर्म तथा फसलों के चुनाव में धार्मिक प्रथाओं का प्रभाव इत्यादि, जनजातियों द्वारा 'झूम' खेती करना और उनके जीविकोपार्जन के अन्य परम्परागत चलन । अधिरचना में कुछ महत्वपूर्ण प्राक्-पूंजीवादी अभिव्यक्तियों के अवशेष हैं - जाति व्यवस्था, पितृसत्तात्मक मूल्यों का वर्चस्व, खाप/चौपाल/पंचायतों की परंपरा, विभिन्न तरह के अंधविश्वास और धार्मिक अनुष्ठान इत्यादि(यद्यपि हम पाते हैं कि इन प्राक्-पूंजीवादी अधिरचनात्मक रूपों में भी सतत् बदलाव जारी है) । अधिरचना में मौजूद प्राक्-पूंजीवादी ढेर सारे रूप पूंजीवाद के विकास की गति को मद्धिम करते हैं, इसलिये इनकी भूमिका को नजरअंदाज नहीं किया जाना चाहिये । लेकिन हमारा कहना है कि ये सम्बन्ध/चलन केवल अवशेषों में हैं । ये मुख्य शरीर में नहीं है । मुख्य शरीर क्या हैं ? मुख्य शरीर पूंजीवादी सम्बन्धों से बना हुआ है ।

द्वितीयतः, हमारा मानाना है कि कृषि व्यवस्था के पूंजीवादी हो जाने के लिए कृषि व्यवस्था का अधिरचना का पूरी तरह जनवादीकरण जरूरी नहीं है । एक बहुत ज्यादा नौकरशाह राज्य मशीनरी के बावजूद कृषि सम्बन्ध पूंजीवादी हो सकते हैं । पूंजीवादी शोषण के लिए स्वतंत्र मजदूर की उपस्थिति ही इसके पूंजीवादी होने की सबसे महत्वपूर्ण शर्त है । ठोस रूप में, भारत में यह बुनियादी शर्त पूरी होती है, देहातों में सरकारी तंत्र पूरी तरह जनवादी नहीं है, यह अंशतः जनवादी है, लेकिन यह पूंजीवादी उत्पादन के अनुरूप है क्योंकि यह सामंती विशेषाधिकारों का पोषण नहीं करता ।

*अनुच्छेद - 16 (अनुभाग डी) में आप जनवादी क्रांति में **धनी किसानों** के संश्रयकारी होने के सवाल को लेते है । जहां तक जनवादी क्रांति के सिद्धान्त का सम्बन्ध है, हम कोई तर्क नहीं करते, हम आप से सहमत हैं । धनी किसान की भूमिका को लेकर सवाल ठोस भारतीय वास्तविकता से पैदा होता है । आपका तर्क है कि क्रांतिकारी किसान उभार के अभाव में धनी किसान जुंकर रास्ते का वस्तुतः सक्रिय समर्थक और अनुसंगी है । हमारा सवाल यह है कि क्रांतिकारी उभार शुरू होने पर किन वर्गीय हितों की वजह से ये कुलक जुंकर रास्ते से अलग हो जायेंगे (और संश्रयकारी हो जायेंगे)? हम पाते हैं कि वे अब सामंती मालिकों से उत्पीड़ित नहीं हैं, इसके विपरीत वे मौजूदा राजसत्ता में साझीदार हैं और वे संसद/विधानसभाओं में प्रभावकारी लॉबी बनते है । इनका विकास अन्य पूंजीपतियों के साथ देश के पूंजीवादी विकास के दौरान हुआ है । वे क्यों जुंकर रास्ते को छोड़ना चाहेंगे और उस क्रांति के पक्ष में हो जायेंगे जो कि इस मौजूदा स्वर्ग को अवश्यंभावी तौर पर हिला देगी ? हम समझने में असमर्थ हैं कि क्रांति इन फूलने-फलने वाले कुलकों के वर्ग हितों को कैसे पूरा करेगी । कृपया इसकी व्याख्या करें । यदि कोई उपयुक्त व्याख्या नहीं है, तो कृपया सर्वहारा/अर्द्ध-सर्वहारा, छोटे और मझोले-किसानों के हित में कुलक-विरोधी, पूंजीवादी भू-स्वामी विरोधी, क्रांति की सम्भावना पर विचार करें ।

* और अंत में **रणकौशल** पर एक आपत्ति । अनुच्छेद -16(अनुभाग ए) में आप कहते हैं कि कृषि के समर्थन मूल्य को बढ़ाने की मांग पूंजीवादी भू-स्वामी और कुलक की मांग है, कि यह मांग सर्वहारा/अर्द्ध-सर्वहारा, छोटे और मझोले किसान की मांग नहीं हो सकती । सामान्यतः हम आपकी अवस्थिति से सहमत हो सकते हैं । लेकिन मूर्त रूप में हम इसे अपर्याप्त मानते हैं । आपको कम से कम वर्तमान के विशिष्ट मामले को हाथ में लेना चाहिये, जब 1991 के बाद सुधार के काल में राज्य समर्थन मूल्य प्रणाली से अपना हाथ खींच रहा है । यह स्थिति '80 के दशक के किसान आन्दोलन से भिन्न है जो मूलतः समर्थन मूल्य बढ़ाने के लिये आन्दोलन थे । वर्तमान समर्थन मूल्य प्रणाली को वापस लिये जाने(चाहे यह खुले रूप में सरकारी नीति के जरिये हो या चाहे छिपे रूप के जरिये जो किसानों की बेचे जाने वाली पूरी फसल को खरीद संस्थाओं द्वारा न खरीदने में होती है) और स्वतंत्र बाजार प्रणाली को छुट्टा छोड़ देने (जिसमें आढ़तियों और जमाखोरों की चांदी होती है) का मतलब खेतीहर अर्द्ध-सर्वहारा, छोटे और मध्यम किसानों की स्थिति में गिरावट होती है क्योंकि वे सस्ते में बेचने और महंगे में खरीदने को मजबूर होते हैं । यह स्वाभाविक है कि वे इस हमले को पीछे धकेलने के लिये कमर कसते हैं । प्रश्न यह है कि ऐसे संकट के दौरान, क्या सर्वहारा को(जो स्वयं भी बाजार प्रणाली से पीड़ित है) अपने क्रांतिकारी संश्रयकारी की मदद नहीं करनी चाहिये ? हमारा कहना है 'हां', कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को अर्द्ध-सर्वहारा और छोटे मध्यम किसानों की दशा में गिरावट के विरोध में लड़ना चाहिये । अगर समर्थन मूल्य मुद्रास्फीति में अपेक्षाकृत अधिक वृद्धि लाने की वजह से अनुकूल कदम नहीं है तो भी कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को उपयुक्त समर्थन मूल्य की मांग का समर्थन करना चाहिए । समर्थन मूल्य के किसी भी संघर्ष के लिए बिल्कुल 'न' की आपकी अवस्थिति अनुचित है।

निश्चय ही यह महत्वपूर्ण है कि मांगें वर्गीय मागों के रूप में पेश हों न कि व्यापक किसान समुदाय की मांगों की तरह । कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों को केवल एक समर्थन मूल्य (single support price) संरचना की मांग नहीं करनी चाहिये बल्कि श्रेणीबद्ध समर्थन मूल्य (graded support price) संरचना की मांग करनी चाहिये जो प्रतिलोम नियम में काम करती हो, यानि कि छोटी जोत वाले किसान के लिये ज्यादा समर्थन मूल्य और ज्यादा सम्पन्न हिस्से के किसान के लिये कम समर्थन मूल्य । दूसरे, यह एक ऐसी ही और प्रभावी गरीब समर्थक सार्वजनिक वितरण प्रणाली की मांग के साथ जुड़ी होनी चाहिये । दोनों ही मांगें संयुक्त मांग के बतौर पेश होनी चाहिये ताकि सर्वहारा और उसके संश्रयकरियों के बीच एकता स्थापित की जा सके ।

द्वितीयतः, कम्युनिस्ट क्रांतिकारियों का यह कर्तव्य है कि सर्वहारा वर्ग और उसके संश्रयकारियों के इस आंशिक संघर्ष को व्यवस्था के खिलाफ आम और केन्द्रीय संघर्ष के साथ जोड़ें । ऐसे परिप्रेक्ष्य के अभाव में समर्थन मूल्य के मुद्दे पर कोई भी संघर्ष विशुद्ध अर्थवाद होगा।

कामरेडो, आपके प्रस्ताव में जो प्रमुख अपर्याप्तायें और गलतियां हमें लगीं, यह उसकी एक संक्षिप्त आलोचना है । इस पत्र के शुरूआत में हमने कहा था कि आपका प्रस्थान बिन्दु और जोर ठीक दिशा में है । हम महसूस करते हैं कि शुरूआती कुछ जोशीले कदमों के बाद आप ने अपने को रोकना शुरू कर दिया । हम चाहेंगे कि आप अपने शुरूआती संवेग को बनाये रखेंगे, 21वीं सदी की भारतीय कृषि के वस्तुगत यथार्थ का आकलन करेंगे और जरूरी निष्कर्ष निकालेंगे । एक कम्युनिस्ट के बतौर हमें झुण्ड से निर्वासित या निषेध हो जाने से डरना नहीं चाहिये । यह हमारा कर्तव्य है कि सत्य जैसा है उसको वैसा ही स्वीकार करें, अगर जरूरत हो तो पूर्व निर्धारित सैद्धान्तिक ढांचे या मौजूदा रणनीतिक योजना को अस्वीकार कर दें ।

क्रांतिकारी अभिवादन के साथ,

18 फरवरी, 2004

पुनर्गठन कमेटी, भारत की कम्युनिस्ट लीग (मा.ले.)